रास नृत्य में वाचिक अभिनय

स्वामी हरिगोविन्द शर्मा
श्री राम प्रसाद शर्मा

आंगिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्यम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्विकं शिवम्।। अभिनयदर्पण, 1

"यह समस्त विश्व जिनका 'आंगिक' अभिनय है; सम्पूर्ण वाङ्मय जिनका 'वाचिक' अभिनय है; चन्द्र तथा तारागण आदि से मण्डित आकाश जिनका 'आहार्य' अभिनय है और सात्विक अभिनय के रूप में जो स्वयं सुशोभित है, उन नटराज शिव को हम नमस्कार करते हैं।"

रास नृत्य में वाचिक अभिनय का महत्त्वपूर्ण स्थान है *नाट्यशास्त्र* में वाचिक अभिनय को नाट्य का शरीर कहा है क्योंकि अभिनय के अन्य अंग उसके अर्थ को व्यंजित करते हैं। नाटककार इसी के आधार पर और इसी के माध्यम से अपनी कथावस्तु को हमारे सन्मुख प्रस्तुत करता है और कथानक एवं चारित्रिक विकास क्रम को उपस्थित करता है। सूत्रधार और अभिनेता इसी आधार को ग्रहण करता है। रास नृत्य में जिस वार्तालाप या कथोपकथन का प्रयोग किया जाता है वह जीवन की सम्पूर्ण परिस्थिति के साथ सजीव रूप में प्रयुक्त हो सकता है। इस प्रकार कथोपकथन हमारे चिन्तन एवं मनन की भाषा की अपेक्षा जीवन की भाषा के अधिक निकट होता है। प्राचीन काल में साहित्यिक एवं जीवन की भाषा में अन्तर नहीं था। उस समय साहित्यिक भाषा नहीं थी जो बोलचाल की ही साधारण भाषा थी। यही कारण है कि *नाट्यशास्त्र* में भाषाओं एवं बोलियों के साथ-साथ वाचिक अभिनय में पाठ्य (कथोपकथन) के प्रयोग पर विशेष रूप से विचार किया गया है। *नाट्यशास्त्र* में पाठ्य के छः अंग बताये गये हैं–स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, अलंकार और अंग। किन्तु पाठ्य के इन छः अंगों का समुचित प्रयोग व्याकरण, काव्य, संगीत एवं छन्द शास्त्र के ज्ञान के बिना नहीं किया जा सकता। अतः वाचिक अभिनय के उपर्युक्त शास्त्रों का ज्ञान आवश्यक है।

रासलीला में वाणी (गीत, सम्वाद आदि) के द्वारा किया गया अभिनय वाचिक अभिनय कहलाता है। इस प्रकार वाचिक अभिनय का मुख्य सम्बन्ध वाणी बोलने से होता है। अतः स्वरूपों को शुद्ध, स्पष्ट एवं युक्तिसंगत वाणी बोलने का अभ्यास कराया जाता है। उच्चारण के सम्बन्ध में निश्चित नियमों की आवश्यकता है। पाठ्य के सम्बन्ध में सात स्वर, तीन स्थान, चार प्रकार के वर्ण, काकु छः अलंकारों का निर्देश किया जाता है। उसके अनुसार सात स्वर षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद हैं। शृंगार और हास्य मध्यम तथा पंचम, वीर, रौद्र और अद्भुत में षड्ज तथा ऋषभ, करुण में गान्धार एवं निषाद वीभत्स और भयानक में धैवत स्वरों का प्रयोग उचित माना गया है। वाणी के तीन स्थान बताये गये हैं उरस्, कण्ठ और शिर। किस अवसर पर किस स्थान की वाणी का प्रयोग करना चाहिए इसकी विधि जानने के लिए स्वरों एवं स्थानों का ज्ञान होना आवश्यक है। पाठ्य के प्रसंग में समीपवर्ती पात्रों के साथ उरस का, थोड़ी दूरी पर स्थित पात्रों के साथ कण्ठ का और दूरस्थ पात्रों के साथ शिर का प्रयोग होता है। रास में स्वर लयों की स्थिति के रूप में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित एवं कंपित चार प्रकार के वर्णों का प्रयोग होता है। हास्य और शृंगार में उदात्त और स्वरित, वीर रौद्र और अद्भुत रसों में उदात्त और कंपित स्वर करुण, वीभत्स और भयानक रसों में अनुदात्त, स्वरित और कंपित वर्णों के प्रयोग का विधान है। उच्चारण सम्बन्धी नियमों पर विस्तार से विवेचन किया जा सकता है।

काकु पाठ्य गुण का प्राण है। काकु के द्वारा ही अर्थ वैचित्र्य होने से नवीन अर्थ का आधार विस्तीर्णता को प्राप्त होता है। इसके दो भेद होते हैं–साकांक्ष और निराकांक्ष। प्रकरणादि की अपेक्षा करने वाला काकु साकांक्ष होता है। इसमें तार से मन्द्र तक के स्वर, अनियत अर्थ उदात्तादि वर्ण तथा उच्चादि अलंकार अपरिसमाप्त रहते हैं। निराकांक्ष में अर्थ नियत वर्णालंकार परिसमाप्त स्थान शिर, मन्द्र से तार तक स्वरों की योजना होती है। काकु का सम्पादन जिह्वा के द्वारा होता है। अव्यक्त एवं पीड़ित वर्णनों का प्रयोग करना चाहिए। माधुर्य स्पष्ट वर्ण पदच्छेद स्वर, लय एवं धैर्य पाठ के छः गुण हैं। इसके अनुसार उच्चारण में माधुर्य होना चाहिए, वर्ण स्पष्ट होने चाहिए। वाक्यों का पदच्छेद और सुन्दर स्वर होना चाहिए। लय के साथ धीरे-धीरे उच्चारण करना चाहिए। उच्चारण के छः अलंकार होते हैं–उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत और विलम्बित। इनमें काकु की पूर्णता प्राप्त होती है। दूर स्थित पात्रों के संवादों में विस्मय, बाध्य और त्रास आदि में उच्च स्वर से पाठ किया जाता है। पारस्परिक आक्षेप, क्रोध, कला आदि की स्थिति में दीप्त स्वर से पाठ होता है। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य आदि की स्थिति में मन्द स्वर से पाठ होता है। व्याधि मूर्छा, थकान एवं त्रास की दशा में नीच स्वर से पाठ होता है। भय, शीत, त्रास, आवेश आदि की दशा में द्रुत स्वर में पाठ होता है। प्रणय, तर्क, असूया, चिन्ता, लज्जा आदि के प्रदर्शन में विलम्बित स्वर से पाठ होता है। पाठ्य में किस स्थान पर किस अलंकार का प्रयोग उचित और किसका अनुचित है ये जानना जरूरी है। इसकी जानकारी स्वरूपों के लिए आवश्यक बतायी गयी है। इस प्रकार नाट्य में कहाँ पर किस प्रकार उच्च या नीच स्वर से उच्चारण करना चाहिए और कहाँ पर कितना विराम देना चाहिए इत्यादि बातों का ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक बताया गया है। क्योंकि शुद्ध, स्पष्ट सुन्दर स्वरों एवं लयों आदि की उच्चारण विधियों का सम्यग् ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही स्वरूप वाचिक अभिनय का सुन्दर प्रदर्शन कर सकता है।

रासलीला में संवादों का विशेष महत्त्व है। *श्रीमद्भागवत* वर्णित संवाद प्रसंगों में से एक है कृष्ण एवं गोपी संवाद। इसकी संवाद माधुरी एक अप्रत्याशित प्रश्न से शुरू होती है जो गोपियों को संदेह में डाल देती है। गोपियों ने सभी दोषों का दायित्व कृष्ण पर ही डालकर अपनी वचन चातुरी एवं नागरता का परिचय दिया है। इन संवादों में हाव-भाव, नेत्र एवं चेष्टाओं की अनुपम चित्रवीथी हैं। यह प्रेम में संवाद में पूरी प्रेम आतुरता को व्यक्त करते हैं। इनकी बोलनी एवं संवादों में मधुर रस की सहज स्फूर्ति होती है। हास परिहास युक्त कृष्ण गोपी संवाद भाव पूर्ण रसात्मक सरस एवं मधुर है। इन संवादों का प्राण उत्तर प्रतिउत्तर है जो एक दूसरे पर अपनापन एवं अधिकार की भावना का प्रदर्शन करता है। गोपियों के संवाद माधुरी में दीनता, समर्पण, अधीनता, विनम्रता, सरसता, मधुरता, मनोहारिता, याचकता ओतप्रोत है। लाल का अमृतमय वचन सौष्ठव बड़ा मधुर एवं मोहक है जो गोपियों की प्यास को प्रतिक्षण बढ़ाने वाला है। दोनों का बुद्धिविलास उसमें चार चाँद लगा देता है। उसकी चतुराई चालाकों की श्रेणी में नहीं आती है क्योंकि सारा संवाद माधुर्य मधुर कामनाओं को अपने सहज सरल स्वभाव एवं गुण द्वारा पूर्ण करने में सहायक है। ये सारे संवाद दिव्याधिदिव्य, रसपरक भाव मार्ग के राजपथ हैं। सारा प्रसंग भक्ति रस का एक आंदोलन है। इन संवादों की जीवन्तता एवं रस भक्ति बताती है कि कृष्ण प्रेमास्पद, उपास्य एवं आलम्बन हैं और गोपियाँ आश्रय एवं उपासिका हैं। लीला संवाद रसानुकूल वातावरण की सृष्टि करते हैं। कभी-कभी कृष्ण का अभिनय उनका अप्रिय भाषण सुनकर गोपियाँ उदास व खिन्न हो जाती हैं और आशा टूट जाती है। वे चिन्ता के अथाह समुद्र में डूबने और उतराने लगती हैं।

कृष्ण गोपी संवादों के द्वारा कलाओं का शृंगार सजीव हो गया है। शृंगार रस का रूप उज्ज्वल और कांतिमय निखरकर आया है। माधुर्य मंडित यह शृंगार साधना एवं अनुकरण का विषय बन गया है। इसके श्रुति मधुर संगीत को क्या कहा जा सकता है? जहाँ गोपियों का रूदन भी सस्वर है।

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः।। भागवत 10.32.1

परीक्षित्! भगवान् की प्यारी गोपियाँ विरह के आवेश में इस प्रकार भाँति-भाँति से गाने और प्रलाप करने लगीं। अपने प्यारे कृष्ण दर्शन लालसा में अपने को रोक न सकीं, करुणाजनक सुमधुर स्वर से फूट-फूटकर रोने लगीं। ठीक उसी समय उनके बीचों बीच भगवान् श्रीकृष्ण प्रगट हो गये, उनका मुखमण्डल मन्द-मन्द मुस्कान से खिला हुआ था, गले में वनमाला थी, पीताम्बर धारण किये हुए थे, उनका यह रूप क्या था, सबके मन को मथ डालने वाले कामदेव के मन को भी मथने वाला था।

वाचिक अभिनय के साथ सात्विक अभिनय जुड़ा हुआ है। ब्रज की उपासना में और रासलीला में सात्विक अभिनय का सर्वाधिक महत्व है। वाचिक अभिनय हमारा कैसा होना चाहिए? हमें नाम उच्चारण कैसे करना चाहिए? इसका एक उदाहरण *श्रीमद्भागवत* के आधार पर देखिए–

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः।। श्रीमद्भागवत 11.2.40

नाम संकीर्तन करने के कारण जिसका प्रभु के पाद-पद्मों में दृढ़ अनुराक उत्पन्न हो गया है, जिसका चित्त प्रेम से द्रवीभूत हो गया है ऐसा भक्त पिशाच से पकड़े हुए के समान अथवा पागल की भाँति कभी तो जोर से खिलखिलाकर हँस पड़ता है, कभी दहाड़ मारकर रोता है, कभी रोते-रोते हू-हू कर चिल्लाने लगता है, कभी गाने लगता है और कभी संसार की कुछ भी परवाह न करते हुए आनन्द के उद्वेग में नृत्य करने लगता है। (ऐसे ही भक्तों के पाद-पद्मों की रज से यह पृथ्वी पावन बनती है।)

रंग-संरचना

रासमंच पर श्रीकृष्ण की क्रीड़ाओं के अनुकरणात्मक प्रदर्शन को "रासलीला' संज्ञा से अभिहित किया जाता है। रासलीला के इस प्रदर्शन को रंग-संरचना की दृष्टि से पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध, दो खण्डों में विभक्त किया जा सकता है। लीला-प्रदर्शन के पूर्वार्द्ध को 'नित्यरास' अथवा 'संगीत' कहते हैं एवं उत्तरार्द्ध को लीला-विशेष के नाम से जाना जाता है। नित्यरास की रंग-प्रक्रिया एक सुनिश्चित परिपाटी के अनुकूल अपने नृत्यात्मक स्वरूप में सम्पादित होती है। तदुपरान्त श्रीकृष्ण की किसी लीला-विशेष के अभिनय का संगीतमय प्रस्तुतीकरण किया जाता है। 'रास' और 'लीला' का यह संयोग 'रासलीला' का अनुल्लंघनीय विधान है और इस नामकरण का भी सम्भवतः यही कारण है। रासमंच पर लीला-पूर्व नृत्य-प्रदर्शन की परिपाटी अपने पारम्परिक रूप में भरत सम्मत नाट्य-प्रदर्शन-पूर्वनृत्त की अल्पकालिक व्यवस्था के अनुरूप ही रासलीलाओं की रंग-योजना में गृहीत हुई प्रतीत होती है। सम्भवतः इसी कारण रासलीला प्रदर्शनों में अभिनीत विविध लीलाओं की वस्तुपरकता में पर्याप्त वैभिन्य होते हुए भी इनके पूर्वार्द्ध 'नित्यरास' में एकरूपता बनी दृष्टिगोचर होती है। रासमंच की लीलाओं का पूर्वार्द्ध हो अथवा उत्तरार्द्ध, इनका सम्पूर्ण कलेवर एक वैष्णवी रंग में रंगा होता है।

रास का शुभारम्भ

भरत के *नाट्यशास्त्र* में नाट्य-प्रारम्भ से पूर्व वाद्यों के घोष से सामाजिकों को आकर्षित करने का प्राविधान है। रासलीला के प्रदर्शन से पूर्व भी रासमंच के प्रयोक्ताओं द्वारा हरिनाम-संकीर्तन की प्रथा का प्रचलन इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया प्रतीत होता है। हरिनाम-संकीर्तन की इस प्रक्रिया को यहाँ प्रायः कोई स्थानीय भक्त सम्पन्न कराता है। इसी बीच रासमंच पर स्थापित सिंहासन के समक्ष अर्द्धवृत्त बनाकर अपने वाद्य-यन्त्रों के साथ

समाजी वर्ग बैठ जाता है और बिना किसी व्यवधान के अपने-अपने साजों को स्वरादि की दृष्टि से मिला लेता है। मंच के तीन ओर बैठी भक्त-मण्डली संकीर्तन द्वारा अपनी चित्तवृत्तियों को केन्द्रित करने में लगी होती है कि रासमंच पर एक साधारण सी यवनिका के उद्घाटन के साथ मंचस्थ सुसज्जित सिंहासन पर श्रीराधाकृष्ण की दिव्य-झाँकी दर्शक-समाज के सम्मुख प्रकट हो जाती है। ब्रज-संस्कारों के अनुरूप अलंकृत श्रीराधाकृष्ण की यह जुगलजोड़ी नयनाभिराम होती है। श्रीकृष्ण का दक्षिण-हस्त उनके मुखारविन्द पर विराजित मुरलिका का आश्रय बनता है तथा बामहस्त उनकी वामांग में विराजित श्रीराधिका की गलबहियाँ दिए होता है। सिंहासन पर विराजित श्रीराधाकृष्ण के निकट ही थोड़ा सा नीचे उनकी दोनों ओर सखियाँ बैठ जाती हैं अथवा उन्हें श्रीराधाकृष्ण की चँवर, छत्र आदि की सेवा करते हुए दिखाया जाता है। रास में मंगलाचरण की भी अपनी विशेष परिपाटी है। प्रारम्भ में गुरु की वन्दना, रासबिहारी की वन्दना, ब्रज-वन्दना, प्रभुस्वरूप-वन्दना आदि के स्वर क्रमशः रासमण्डल पर गुंजरित होते हैं। मंगलाचरण आदि प्राचीन ग्रन्थों के श्लोकों से किया जाता है। मंगलाचरण का प्रमुख प्रयोजन श्रीराधाकृष्ण एवं सखीरूप सिंहासनारूढ़ स्वरूपों में श्रीविग्रह की भावना को प्रतिष्ठित करना है। रासरस रसिक दर्शकों की भावभूमि को दिव्यरसास्वादन प्रदान करने में ये श्लोक समर्थ होते हैं। भगवान् के शील, सौन्दर्य, ऐश्वर्य एवं गरिमा की अभिव्यंजना में ये रचनायें भक्तिमय वातावरण को बनाने में विशेष योगदान करती हैं। श्रीराधाकृष्ण की युगल-वन्दना के उपरान्त रासमण्डली के स्वामी द्वारा ब्रजगोपिकाओं की वन्दना की जाती है, गुरुवन्दना होती है और उसी प्रसंग में श्रीवृन्दावनधाम की वन्दना होती है।

रासमंच पर पधारने की प्रार्थना

सखी-परिकर द्वारा प्रशस्ति-गायन के उपरान्त रासमंच पर रासमण्डल में पधारने की प्रार्थना का क्रम चलता है। यह प्रार्थना भी अपने रूप-रंग में विविध प्रकार की है। प्रथम सखियाँ प्रार्थना करती हैं तत्पश्चात् यह अभ्यर्थना श्रीराधाकृष्ण के बीच पारस्परिक रूप में सम्पन्न होती है। सखियों द्वारा श्रीराधाकृष्ण से लीला हेतु रासमण्डल पर पधारने की अभ्यर्थना के अनन्तर श्रीराधिका से रास करने के लिए श्रीकृष्ण प्रार्थना करते हैं। पुनः यही क्रम श्रीराधिका की ओर से चलता है। श्रीराधाकृष्ण की पारस्परिक इस प्रार्थना के भी शैलीगत अनेक रूप प्रचलित हैं। कहीं श्लोकों के माध्यम से प्रार्थना होती है तो कहीं ब्रजभाषा गद्य-पद्य में रासमण्डल प्रवेश के लिए पारस्परिक अनुनय-विनय की जाती है। रासमंच की पारस्परिक इन प्रार्थनाओं में आजकल लोकधुनों की हृदयग्राही योजना होने लगी है।

रास-समाज के लिए प्रियाजी द्वारा सखियों को आदेश

श्रीराधाकृष्ण की रासविषयक पारम्परिक अभ्यर्थना के उपरान्त रासेश्वरी श्रीराधिका अपनी सखियों को रासविलास की योजना के लिए आदेश प्रदान करती हैं। विशेष करके ललिताजी से कहती हैं पदों में बीच-बीच ब्रजवर्तिकों की नियोजना इस संवाद को और भी सहज बना देती हैं। सुन्दर साज-समाज की व्यवस्था के लिए विभिन्न सखियों द्वारा वाद्य विशेष की सेवा का भी इस वर्णन में स्पष्ट संकेत मिलता है। प्रसंग की नाटकीय अवतारणा के लिए जब ब्रजभाषा गद्य में कोई सखी श्रीराधिका से बीच में ही अपनी सेवा विशेष के लिए जिज्ञासा कर बैठती है तब राधाजी परिस्थितियों को सँभालती हैं।

रासलीला के प्रयोक्ता अथवा रास-मण्डली के अधिपति जिन्हें स्वामी कहा जाता है, वंशानुक्रम से रास-मण्डली का कार्य करते हैं। उन्हें परम्परागत रूप से कतिपय भक्तिपरक एवं नैतिक नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। रास के ये समायोजक यदि सवयं में भक्त-हृदय न हों तो रासलीला द्वारा अभीष्ट फल की प्राप्ति सम्भव नहीं है। स्वामी अपनी मण्डली के साथ विभिन्न नगरों में भी यात्रा करते हैं और अपने भक्तों अथवा दर्शकों

के बीच अपनी मण्डली के साथ रहते हैं। उन्हें भक्तों द्वारा केवल कलाकार के रूप में ही नहीं, वरन् एक भक्त या आचार्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और इस भावना के अनुरूप वे अपने जीवन को साधनामय रखते हैं। दैनिक इष्टायोजना के साथ वे स्वयं भी अनेक नियमों का पालन करते हैं और भगवत-स्वरूप धारण करने वाले मण्डली के बालकों को भी वे इस प्रकार की शिक्षा देते हैं जिससे उनका जीवन पवित्र हो तथा वे सब नैतिक आचरण के आदर्श बन सकें। सामान्य कलाकार केवल मंच पर ही आदर पाते हैं किन्तु रासलीला के पात्र या स्वरूप लीला के अतिरिक्त समय में भी सम्मान पाते हैं। उनके प्रति भगवदीय भावना व पूज्यनीय दृष्टि मानी जाती है। रास में राधाकृष्ण के स्वरूपों को श्रीलाड़लीलालजी कहा जाता है। उनके नैतिक नियम भगवदीय बनाने के लिए थोड़े समय सोना सत्संग एवं धर्मग्रन्थों का अध्ययन करना, निरर्थक चर्चा से दूर रहना, असद् आचरण से दूर रहना और हरिनाम उच्चारण करना आदि नियमों का पालन आवश्यक है।

रासवृत्त की शास्त्रीय अभिव्यक्ति

रासवृत्त में पदगति के अभिनव प्रयोगों के साथ नृतहस्तों की कलात्मक मुद्राओं का भी प्रदर्शन किया जाता है। दृष्टि-अभिनय के अनुरूप हस्तविक्षेपण की परम्परा मान्य रही है। शास्त्रीय शब्दावली में हस्त-विक्षेप को नृत-हस्त कहा जाता है। आचार्य भरत में हस्तविक्षेपण की 27 क्रियाओं का निर्देश किया है। रासमंच पर इन नृत्त-हस्तों का व्यापक प्रयोग यद्यपि देखने में नहीं आता तथापि यहाँ कतिपय हस्तविक्षेपण की क्रियाएँ अत्यधिक कलात्मक नृत्त-मुद्राएँ निष्पन्न करती हैं। रासनृत्त के सौन्दर्य की अभिवृद्धि में नृत्त-हस्तों का प्रमुख स्थान है। पद-प्रसारण के विविध क्रम एवं हस्त-मुद्राओं की तदनुरूपता रासनृत्त के वैविध्य को स्थापित करती है।

रासनृत्त की अभिनव दृश्यावली के प्रस्तुतीकरण में 'करणों' की अत्यधिक महत्ता है। हस्त तथा पाद द्वारा एक साथ सामंजस्य से किये जाने वाले संचालन को *नाट्यशास्त्र* में 'करण' कहा गया है। विविध करणों के संयोग से नृत्तमातृका, कलापक, माण्डक, संघातक एवं अंगहार आदि अनेक अभिनव नृत्त-भंगिमाओं का विधान होता है। अंगहारों में विविध अंगों तथा प्रत्यंगों की अभिनय क्रियाएँ एक साथ तथा पर्यायशः सम्पन्न होती है। अंगों में शिर, हस्त, कटि, वक्ष, पार्श्व पाद तथा उपांगों में नेत्र, भ्रू, नासा, अधर, कपोल, चिबुक आदि की गणना की जाती है। हस्त एवं पाद के करणों के साथ कटि, पार्श्व आदि अन्य अवयवों के सम्यक् संचलन की क्रियाएँ ही अंगहार के लिए 'करण' बनती है। अंगों के विविध संचालन की क्रियाओं को *नाट्यशास्त्र* में 'रेचक' संज्ञा प्राप्त है। इनके अन्तर्गत अवयवों का बलन, उद्वाहन तथा पृथग्भाव आदि क्रियाओं का समावेश होता है। अंगप्रत्यंगों की नृत्तात्मक रेचक क्रियाएँ रासनृत्त में सम्पन्न होती हैं, परन्तु रास-प्रदर्शन की भक्तिभावमयता में रासनृत्त की कलात्मक का अभिनव-सौन्दर्य क्रमशः मन्द ही पड़ता जा रहा है। रासमंच के आधुनिक प्रयोक्ताओं की कला सम्बन्धी अज्ञानता इसका अवान्तर कारण मानी जा सकती है। रासनृत्त की कतिपय दृश्य-परियोजना में अंगहारों की सफल प्रदर्शना देखी जा सकती है, यद्यपि नृत्यशास्त्र की समुचित बारीकियों के यथावत् निर्वाह का यहाँ भी अभाव ही है।

रासमंच की सखियों द्वारा श्रीकृष्ण को मध्य में लेकर प्रफुल्लित कमल की आकृति का निर्माण करना अथवा श्रीकृष्ण के चतुर्दिक विशेष 'स्थानकों की मुद्रा में खड़े होकर श्रीकृष्ण की वंशी के मादक स्वर में विमुग्ध गायों की अनुकृति ग्रहण करना रासमंच की कतिपय ऐसी ही परिनियोजना हैं, जिन्हें नृत्त की शास्त्रीय मुद्राओं के अन्तर्गत विश्लेषणीय माना जा सकता है। इन नृत्त मुद्राओं के आधार पर रासनृत्य के प्राचीन स्वरूप का यत्किंचित् अनुमान लगाया जा सका है। रास के पर्याय रूप में स्वीकृत 'हल्लीषक' अथवा 'हल्लीसक' शब्द के अर्थगत स्वरूप में रासनृत्य की इन मुद्राओं का परिचय खोजा जा सकता है। 'हल्ल' धातु विकास अर्थ में प्रयुक्त होती है। 'ण्वुल्' प्रत्यय

के संयोग से यह रक्त कल्हार की अभिव्यञ्जक बन जाती है। मण्डलाकार रूप में रक्त कल्हार की परस्पर सम्बद्ध चतुर्तिक विकसित पंखुड़ियाँ और उनके बीच में स्थित डोडी नृत्यरत गोपाङ्गनाओं से परिवेष्ठित श्रीराधाकृष्ण की अद्वय युगलजोड़ी को रूपायित करती दृष्टि-पथ पर आती है। रासमंच के प्रतिष्ठापक आचार्य कवियों के द्वारा वाणीग्रन्थों में रासमण्डल की परिकल्पना सुविकसित कमल के रूप में प्रायः की जाती रही है।

चित्राकृतिनृत्त की दृष्टि से रासमंच पर सखियों द्वारा विविध पिण्डयों की निबन्धना भी अत्यधिक आकर्षक बनती है। महेश्वर ने अंगहारों के द्वारा जिन वृष, सर्प आदि विभिन्न नृत्याकृतियों का निर्माण किया था, उन्हीं को *नाट्यशास्त्रकार* ने 'पिण्डी' कहा है। 'पिण्डीबन्धस्तु पिण्डत्वात्' के अनुसार नर्तकियों की परस्पर दृढ़ समूहबद्धता ही इसका अभीष्ट लक्षण है। रास के मंडलाकृतनृत्त में सखियों की पारस्परिक दृढ़ समूहबद्धता 'शुद्ध पिण्डी' का स्वरूप है। परस्पर लतागुल्मवत् हस्तबन्धन करके ये सखियाँ 'शृंखलिका' पिण्डी की आकृति धारण करती है। 'लताबन्ध' की विशेषता नृत्त में परस्पर हस्तों का लतावत् निबन्धन है। पिण्डी के उपर्युक्त रास-प्रकारों के अतिरिक्त समूह से बाहर सखियों द्वारा व्यक्तिशः सम्पन्न रासनृत्त अथवा छोटे-छोटे समूहों में पृथक्-पृथक् किये गये रास-नृत्यों को पिण्डी के चतुर्थ भेद-भेद्यक के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

रासनृत्त के सन्दर्भ में स्थानक, चारी, करण, अंगहार एवं रेचक आदि क्रियाओं एवं पिण्डी आदि विविध नृत्याकृतियों का विवेचन किया जा चुका है। रासनृत्य की अभिव्यक्ति को न्यूनाधिक रूप में नृत्तगत शास्त्रीय मान्यताओं के अनुकूल एक सायुज्य अभिव्यक्ति मानना अधिक समीचीन होगा। एक ओर रासनृत्त में जहाँ शास्त्रीय मार्ग का अनुसरण परिलक्षित होता है, वहाँ यथोचित ज्ञान के अभाव में नृत्तशास्त्र में गृहीत परम्पराओं के अवशेष रूप में भ्रष्ट प्रयोग भी देखने में आते हैं। इस सन्दर्भ में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि वैष्णवी दृष्टि को रासविधा का उत्कर्ष उसके भावपक्ष में ही अपेक्षाकृत अधिक मान्य रहा है, जिससे उसके कलापक्ष का विनाश होता गया है।

सूत्रधार

रासमंच के सूत्रधार को स्वामी, समाजी एवं आचार्य नामों से पुकारा जाता है। इनमें से प्रायः ब्राह्मण वंश तथा ब्रजक्षेत्र से सम्बन्धित होते हैं। स्वामी ही अपनी रासमण्डली का प्रबन्धक या व्यवस्थापक होता है। इसी के निर्देशन में सभी पात्र अपना-अपना अभिनय प्रस्तुत करते हुए दर्शकों का मन मोहते हैं। रासस्वामी ही लीला का विस्तार, लीला को मोड़ देना अथवा उसे छोटा-बड़ा करने का कार्य करते हैं। बीच-बीच में स्वयं बोलकर कथा-भाग को आगे बढ़ाते हैं तथा पात्रों को उनके अभिनय में सहयोग करते हैं। ये ही पात्रों के गीतों को भी गाते हैं। वस्तुतः स्वामी ही रास का निर्देशक, संचालक एवं प्रमुख व्यक्ति होता है। सूत्रधार का कार्य करने वाले इस स्वामी का स्थान मंच पर ही होता है जो अपने वाद्यवृन्द के साथ खड़े होकर या बैठकर लीला का संचालन करता है। जब दृश्यों का परिवर्तन का समय होता है तब रासस्वामी संगीत गान के द्वारा भक्तिमय वातावरण बनाकर भक्तों को दत्तचित्त किए रहता है। रासस्वामी या सूत्रधार का कुशल होना परमावश्यक है। लीला की सफलता पूरी तरह रासाचार्य के निर्देशन पर निर्भर करती है।

विदूषक

ब्रजरास में लोक नाटकों की तरह विदूषक की स्थिति परिकल्पित की गयी है। रासमंचों पर मनसुखा जैसे पात्र का अभिनय गंभीर से गम्भीर लीला को हास्य में बदल देता है। एक-दो सखियों के साथ हास्य-संवादकर मनसुखा का अभिनय करने वाला पात्र दर्शकों के बीच ठहाकों भरी हँसी की लहर पैदा कर देता है। रासमंच का यह विदूषक कभी-कभी रसिया विशेष के गायन द्वारा भी अपने कार्य में सफलता पा लेता है।